विवाह संस्कार

डा० धनञ्जय वासुदेव द्विवेदी

सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,

डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी विश्वविद्यालय, राँची

विवाह संस्कार हिन्दू संस्कृति में मान्य सोलह संस्कारों में सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह गृहस्थाश्रम का प्रवेशद्वार ही नहीं, अपितु आधारशिला भी है।अन्य पन्द्रह संस्कार इसी संस्कार पर आश्रित हैं। विवाह संस्कार के पूर्ववर्ती जितने भी संस्कार हैं, वे एक प्रकार से व्यक्ति को सर्वाङ्गपूर्ण बनाने में सहायक होते हैं। यह एक ऐसा संस्कार है जिससे मनुष्य व्यक्ति धरातल से उठकर पारिवारिक एवं सामाजिक धरातल पर पहुँच जाता है। प्राचीन काल में इस संस्कार को अति महत्त्व प्रदान किया गया था। प्राचीनकाल में विवाह को यज्ञ माना जाता था।

गृहस्थाश्रम में धर्म, अर्थ काम-त्रिवर्ग की सिद्धि का साधन भी विवाह संस्कार है। किसी स्त्री को धर्मतः पत्नी बनाने वाला व्यक्ति ही यज्ञादि कार्य करने में समर्थ है। विवाह की इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही हमारे वेदों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों, पुराणों तथा काव्यग्रन्थों में इस संस्कार को मान्यता दी गई है और इसके विषय में विस्तृत जानकरी दी गई है।वस्तुतः गृहस्थाश्रम की सफलता के लिए पत्नी की आवश्यकता अपरिहार्य है। मनु के अनुसार सन्तानोत्पादन, उत्पन्न संतान की रक्षा तथा दैनिक लोकव्यवहार का सम्पादन स्त्री के बिना नहीं हो सकता-

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।

प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्।।

विवाह शब्द की व्युत्पत्ति वि उपसर्गपूर्वक वहन करना अर्थ वाली वह् धातु से घञ् प्रत्यय लगाकर हुई है जिसका अर्थ है विशिष्ट प्रकार से वहन करना। वास्तव में व्यक्ति का दाम्पत्य जीवन तभी सफल हो सकता है, जब वह अपने पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित कर्तव्य का निर्वाह पूर्णनिष्ठा से करे। कोशग्रन्थों एवं वैदिक ग्रन्थों में विवाह को भार्याप्राप्ति का कारण माना गया है। इसे पाणिग्रहण भी कहा गया है। विवाह वर-वधू के मध्य एक पवित्र आध्यात्मिक सम्बन्ध है, जो अग्नि एवं देवताओं के साक्ष्य में सम्पादित

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

होता है। स्थूल दृष्टि से एक लौकिक उत्सव दिखायी देने वाला यह संस्कार जीवन में सभी प्रकार की मर्यादाओं की स्थापना करने वाला है। सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से मुक्ति दिलानेवाला यह संस्कार संयमित ब्रह्मचर्य, सदाचार, अतिथि-सत्कार तथा प्राणिमात्र की सेवा करते हुए स्वयं के उत्थान में सहज साधन के रूप में प्रतिष्ठित है। विवाह का मूल उद्देश्य लौकिक आसक्ति का तिरोभावकर एक अलौकिक आसक्ति के आनन्द को प्रदान करना है।

विवाह का उद्देश्य धार्मिक कार्यों का सम्पादन भी है। तैत्तिरीय आरण्यक में पत्नीरहित व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकारी नहीं माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में जाया अर्थात् पत्नी को आधा भाग कहा गया है। विवाह के अनन्तर की ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था की पूर्णता होती और गृहस्थाश्रम प्रवेश होता है। मनुजी बताया है कि आयु का द्वितीय भाग अर्थात् 25 से 50 वर्ष की अवस्था विवाह के अनन्तर गृहस्ताश्रम में व्यतीत करनी चाहिए-**द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्**। यह गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का उपकारक है और गृहस्थधर्म विवाह-संस्कार के अनन्तर ही शक्य है। गृहस्थाश्रम की बहुत महिमा है, इसे तीनों आश्रमों की योनि कहा गया है-**त्रयाणामाश्रमाणां तु गृहस्थो योनिरुच्यते**। कहा गया है कि जिस प्रकार सभी जीव माता के आश्रय से जीवित रहते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय से ही जीवित रहते हैं-

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।

तथा गृहाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः।।

जिस प्रकार सभी आश्रमों का मूल गृहस्थाश्रम है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम का मूल है-स्त्री (पत्नी)-**गृहवासो सुखार्थो हि पत्नीमूलं च तत्सुखम्**। गृहिणी होने से ही गृह की गृह संज्ञा है-**न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते**।

सन्तानोत्पत्ति, वर्णाश्रमधर्मपालन आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अग्नि, देवता तथा ब्राह्मण को साक्षी मानकर वर द्वारा वधू का पाणिग्रहण संस्कार विवाह है। चूँकि इसका उद्देश्य वर्णाश्रम धर्मपालन है, इसीलिए समावर्तन संस्कार के पश्चात् विवाहसंस्कार का निर्देश किया गया है।

विवाह के मुख्य उद्देश्य-

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

विवाह-संस्कार वैदिक ऋषियों-मनीषियों की बहुत ही गहन सूझ-बूझ तथा चिन्तन का परिणाम है। इस संस्कार के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

(क) वंशवृद्धि करना,

(ख) पितृऋण से मुक्ति हेतु सन्तानोत्पत्ति करना,

(ग)यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों की योग्यता,

(घ)सामाजिक तथा धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह,

(ङ) धर्मानुकूल काम की पूर्ति,

(च) स्वेच्छाचारी यौनाचारों पर अंकुश,

(छ) बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा के उपयुक्त वातावरण की प्राप्ति,

(ज) सुख-दुःख के समान-सहभागिता हेतु जीवन-साथी की प्राप्ति,

(झ) पुरुषार्थ की प्राप्ति में सुगमता,

(ञ) गृहस्थ हो करके देवताओं के लिए यज्ञ करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए आचार्य मनु ने लिखा है-

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत्।।

गृह्यसूत्रों, स्मृतियों, पुराणों तथा नीतिशास्त्रों में विवाह प्रकार एवं उनके लक्षणों का भी परिचय मिलता है। प्राचीनकाल में आठ प्रकार के विवाह मान्य थे-ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच-

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।

इनका विवेचन आगे किया जा रहा है-

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

(क) ब्राह्मविवाह- यह विवाह का सर्वोत्तम प्रकार है। यह ब्राह्मणों के योग्य है, इसीलिए ब्राह्म कहते हैं। इस विवाह में कन्या का पिता वेदज्ञ एवं सदाचारी विद्वान् को स्वयं आमन्त्रित करके, उसकी पूजा-अर्चना करके, उसे वस्त्राभूषण से सुशोभित कन्या प्रदान करता है-

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।

आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः।।

स्मृतिकारों ने ब्राह्मविवाह को सर्वश्रेष्ठ विवाह माना है। आचार्य मनु की मान्यता है कि इस विवाह से उत्पन्न सन्तति अपने पूर्वजों की दश पीढ़ी को, अपनी पीढ़ी को तथा अपने से आगे के वंशजों की दश पीढ़ी को अर्थात् 21 पीढ़ी के लोगों को पवित्र कर देती है-

दश पूर्वान् परान् वंश्यानात्मानं चैकविंशम्।

ब्राह्मोपुत्रः सुकृतकृन्मोचयत्येन सः पितॄन्।।

याज्ञवल्क्य स्मृति तथा गरुडपुराण में भी मनु के मत से सहमति प्रकट की गई है।

(ख) दैवविवाह- यज्ञ में पौरोहित्य करने वाले ऋत्विज को, यथाशक्ति अलङ्कृत करके अपनी कन्या का दान करना दैव विवाह है-

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।

अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते।।

चूँकि यज्ञादि कार्य देव सम्बन्धी हैं, अतएव उन कार्यों के सम्पन्न होने के अवसर पर अपनी कन्या का विवाह ऋत्विज से करना दैव विवाह कहलाता है। मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर तथा गरुडपुराणकार ने इस विवाह से उत्पन्न सन्तति को सात पहले की, एक अपनी तथा सात बाद की- इस प्रकार पन्द्रह पीढ़ियों को पापमुक्त करने वाला माना है-दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्।

यज्ञकर्ता ऋत्विज को कन्या देने से माता-पिता को वर ढूँढने की चिन्ता से मुक्ति मिल जाती होगी तथा प्राचीन काल में यज्ञों का पर्याप्त प्रचलन था, इसलिए यह विवाह सम्भव हो सकता था। किन्तु आज यज्ञों की प्रथा होने से इस विवाह की प्रथा समाप्तप्राय है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

(ग) आर्षविवाह- गुणवान् वर से एक या दो गोयुगल लेकर जब पिता धर्मानुसार अपनी कन्या प्रदान कर देता है तब वह आर्षविवाह कहलता है-

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।

कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते।।

महाभारत तथा मनुस्मृति में वर से पशुयुग्म लेने के कारण आर्ष विवाह की भर्त्सना की गई है। डा० अल्तेकर ने वर के द्वारा दिए जाने वाले गोयुगल को वधू शुल्क माना है।

(घ) प्राजापत्य विवाह- जिस विवाह में कन्या का पिता वर का पूजन करके गृहस्थाश्रमधर्म का मिलजुलकर पालन करने के लिए, अपनी कन्या वर को प्रदान करता है, उसे प्राजापत्य विवाह कहते हैं-

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः।।

प्राजापत्य शब्द का अर्थ है-प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा से सम्बन्धित। अर्थात् इस विवाह का उद्देश्य है- ब्रह्मा की सृष्टि में सहायता, वंश-परम्परा का निर्वाह करना। इस विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति के साथ-साथ उसका पालन करना भी था। इस विवाह में वर के द्वारा कन्या के याचना की भी परम्परा थी। इस विवाह से उत्पन्न सन्तति के विषय में मान्यता है कि वह अपने पूर्वजों एवं वंशजों की छः, छः पीढ़ी को अपनी पीढ़ी सहित-अर्थात् तेरह पीढ़ियों को पवित्र करती है।

(ङ) आसुर विवाह- जिस विवाह में वरपक्ष कन्यापक्ष को यथाशक्ति धन प्रदान करके, स्वेच्छा से कन्या से विवाह करता है, उसे आसुर विवाह कहते हैं-

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।

कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।।

वशिष्ठ ने इस विवाह को मानुष विवाह कहा है। इस विवाह में वर के द्वारा कन्या का शुल्क दिया जाता है किन्तु कन्या शुल्क की सीमा अथवा परिमाण के सम्बन्ध से कोई विधान नहीं है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

शुल्क लिए जाने के कारण इस विवाह प्रकार में कन्या विक्रय की वस्तु हो जाती है। अतः कन्या के समस्त गुणों एवं अवगुणों को वर के सम्मुख स्पष्ट कर देना चाहिए, अन्यथा कन्या के माता पिता दण्ड के भागी माने जाते थे। बौधायन स्मृति में भी कन्या का शुल्क लेना अनुचित बताया है। विवाह की प्रथा कन्याओं की अल्पसंख्या के कारण अथवा निर्धनता के कारण प्रचलित थी।

(च) गान्धर्व विवाह- गान्धर्व विवाह उस विवाह को कहते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष पारस्परिक प्रणय के वशीभूत होकर स्वेच्छा से मिलते हैं अर्थात् इस विवाह में कन्या एवं वर स्वयं ही एक दूसरे का चुनाव कर लेते हैं-

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।

गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः।।

यद्यपि स्मृतिकारों ने संस्कार (माता-पिता, पुरोहित द्वारा सम्पन्न की जाने वाली वैवाहिक विधि) के अभाव में इस विवाह को प्रशस्त नहीं माना है, तथापि इस विवाह के परिणाम को सुखद बनाने के लिए इसको वैधानिकता प्रदान कर दी है। कामसूत्रकार आचार्य वात्स्यायन तथा महाकवि कालिदास ने भी गान्धर्व विवाह को स्वीकृति दी है। आचार्य वात्स्यायन ने अपना अभिमत प्रकट किया है कि धार्मिक विधि से विरहित होने के कारण यह विवाह भले ही मध्यम कोटि में आए, किन्तु पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से यह सर्वश्रेष्ठ विवाह प्रकार है। वास्तव में स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रेम ही दामपत्य जीवन की सफलता का आधार है और विवाह का उद्देश्य भी है। इसके साथ ही यह विवाह सुखद, अल्पप्रयत्न, अल्पकष्टसाध्य, व्यर्थ विधि-विधान से रहित तथा प्रेमपूर्ण होने के कारण श्रेष्ठ है।

(छ) राक्षस विवाह- विवाह की जिस विधि में कन्यापक्ष के व्यक्तियों को मार-पीटकर, रोती-चिल्लाती हुई कन्या को बलपूर्वक अपहरण करके ले जाया जाता है, उसे राक्षस विवाह कहते हैं-

हत्वा छित्त्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।

प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

वस्तुतः कन्यापक्ष के लोगों अथवा अभिभावकों की स्वीकृति, उसके मना करने पर युद्ध द्वारा उनसे विरोध प्रकट करते हुए कन्या का बलपूर्वक हरण करना ही राक्षस विवाह है। स्त्री का हरण करके उससे विवाह कर लेने की प्रथा राक्षसों में सर्वाधिक प्रचलित थी और सम्भवतः इसी से विवाह प्रकार का नाम राक्षस विवाह पड़ा। बलपूर्वक हरण करने के बाद उस कन्या से विधिपूर्वक विवाह करना पड़ता था जिसमें होम और सप्तपदी के कृत्य आवश्यक थे। धर्मशास्त्रों में इस विवाह को वीरता का प्रतीक माना गया है और इसे क्षत्रियों के लिए प्रशस्त माना गया है। आज विवाह की यह परम्परा प्रायः लुप्त हो गई है।

(ज) पैशाच विवाह- जिस विवाह में छल-कपटपूर्वक कन्या पर अधिकार करके विवाह सम्बन्ध किया जाता है, उसे पैशाच विवाह कहा जाता है-

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।

इसमें पुरुष कन्या के साथ बलात्कार ही करता था, इसलिए इस विवाह को निन्द्य तथा त्याज्य माना गया है। बलात्काररूप होने के कारण यह विवाह निकृष्ट कोटि का है। राक्षस विवाह में भी बल का प्रयोग होता था, तथापि उसमें धूर्तता का कोई स्थान न था। पैशाच विवाह में कन्या और कन्यापक्ष के लोगों की असावधानता का छल-कपटपूर्वक फायदा उठाया जाता था, जो पति-पत्नी के स्नेह का कारण नहीं बन सकता।

इन आठ विवाह प्रकारों के अतिरिक्त एक अन्य प्रथा भी प्राप्त होती है, वह है स्वयंवर। सूत्रों तथा स्मृतियों में विवाह के प्रसंगमें स्वयंवर का कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु संस्कृत साहित्य में स्वयंवर के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनमें सीता और द्रौपदी के स्वयंवर सर्वविदित हैं।

विवाह का भले ही कोई भी उदाहरण ग्रहण किया गया हो, उसका नियमानुकूल बनाने के लिए विभिन्न क्रियाओं का सम्पन्न किया जाना अत्यावश्यक था। होम तथा सप्तपदी विवाह विधि के आवश्यक कृत्य थे। यह विधान इसलिए किया गया था जिससे कन्या को यज्ञादि कृत्यों में सन्तान को दाय में भाग का अधिकार मिल जाए। सूत्रों अथवा स्मृतियों में वर्णित विभिन्न विवाह प्रकारों में से वर्तमान युग में कुछ ही

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। अधिकांश विवाह ब्राह्म अथवा प्राजापत्य कोटि में आते हैं। ग्रामों में कतिपय विशिष्ट जातियों में आसुर विवाह भी प्रचलित है। नगरों में शिक्षा के प्रसार के साथ लड़के-लड़कियों की सहशिक्षा के कारण गान्धर्व विवाह भी प्रचलन में आ रहा है।

वर-वधू की विवाह योग्य आयु की सीमा में परिवर्तन होता रहा है। वैदिक युग में विवाह की आयु का स्पष्ट निर्देश तो नहीं मिलता, फिर भी ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि युवा होने पर ही विवाह होना चाहिए-

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्देत पतिम्।

विवाह के समय-निर्धारण के विषय में भी हमारे ग्रन्थों में पर्याप्त जानकारी मिल जाती है।

भारतीय शास्त्रकारों ने विवाह में चयन सम्बन्धी कुछ नियम भी स्थापित किए थे। ये नियम सामान्यतः दो श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं- (1) कुछ नियम बहिर्विवाह के सम्बन्ध में हैं जिनके अन्तर्गत एक विशिष्ट समूह के सदस्य परस्पर विवाह नहीं कर सकते। (2) अन्य नियम अन्तर्विवाह सम्बन्धी हैं जिनमें एक विशिष्ट समूह के सदस्यों को उस समूह में ही विवाह करना आवश्यक है-उस समूह से बाहर वे विवाह नहिं कर सकते।

(१) बहिर्विवाह- इसका तात्पर्य यह है कि एक बड़े समूह के भीतर छोटे-छोटे जो उपसमूह होते हैं, उनमें परस्पर विवाह न हो। श्री दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश में बहिर्विवाह के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। बहिर्विवाह के अन्तर्गत गोत्र, प्रवर एवं पिण्ड का ध्यान रखा जाता है।

बहिर्विवाह के इस रूप के अन्तर्गत एक ही गोत्र के कन्या एवं वर के बीच विवाह निषिद्ध होता है। वैदिक युग में गोत्र शब्द का अर्थ भले ही कुछ भी रहा हो, सूत्रकाल से लेकर गोत्र शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है, वह है किसी एक ऋषि से वंशपरम्परा का बढ़ना। गृह्यसूत्रों में गोत्र शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ, उस अर्थ में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है जहाँ गुरु अपने पास शिष्य रूप में आए हुए सत्यकाम जाबाल से उसका गोत्र पूछते हैं। एक पूर्वज ऋषि की सन्तान रूप अर्थ में गोत्र शब्द निश्चित

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

हो जाने के कारण सारे व्यक्ति परस्पर भाई-बहन के समान हो गए, अतः विवाह में सगोत्र निषेध प्रचलित हुआ।

जिस प्रकार सगोत्र विवाह का निषेध किया गया है, उसी प्रकार सप्रवर विवाह भी निषिद्ध माना गया है। गोत्र रक्तसम्बन्ध का सूचक है और प्रवर आध्यात्मिक सम्बन्ध का। प्रवर संस्कारों या ज्ञान के उस सम्प्रदाय की ओर संकेत करता है जिससे व्यक्ति का निरन्तर सम्बन्ध रहा है।

सगोत्र विवाह अथवा सप्रवर विवाह कर लेने पर सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने विविध प्रकार के दण्ड का भी विधान किया है। गौतम ने इस नियम के उल्लंघन को गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार के सदृश भयंकर माना है। वर्तमान युग में भी अपने गोत्र में विवाह न करने का नियम पालन किया ही जाता है।

बहिर्विवाह का एक और रूप सपिण्ड विवाह निषेध के रूप में प्राप्त होता है। पिण्ड शब्द के दो मुख्य अर्थ हैं- एक शरीर तथा दूसरा- मृतक को दिया जाने वाला भात का गोला। विवाह के प्रसंग में सपिण्डता दोनों अर्थों में ग्रहण होती है। जो दो व्यक्ति एक ही शरीर के अंशों से परस्पर सम्बद्ध होते हैं वे सपिण्ड हैं। पिता के शरीर का अंश पुत्र में होने से पिता-पुत्र में सपिण्डता है। याज्ञवल्क्य ने व्यवस्था दी पिता की ओर सात पीढ़ी और माता की ओर पाँच पीढ़ी तक ही सपिण्डता रहती है। सपिण्ड से विवाह नहीं करना चाहिए।

(२) अन्तर्विवाह- इसके अन्तर्गत अपने ही वर्ण या जाति में विवाह करना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने वर्ण के बाहर विवाह करता है वह पाप का भागी होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अन्तर्विवाह के दो मुख्य उद्देश्य दिखाई देते हैं, प्रथमतः इसका लक्ष्य प्रजातीय रक्त सम्बन्धी शुद्धता को बनाए रखना है। द्वितीयतः अन्तर्विवाह विशिष्ट वर्ण के उन रीतिरिवाजों, परम्पराओं, रूढ़ियों और पद्धतियों को सुरक्षित रखने में सहायक होता है जिनके कारण एक वर्ण दूसरे वर्ण से पृथक् दिखती है। अन्तर्विवाह को सवर्ण विवाह भी कहा जाता है। सवर्णा पत्नी की सर्वत्र प्रशंसा की गई है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

अन्तर्विवाह के अन्तर्गत सवर्णा पत्नी को सर्वश्रेष्ठ माने जाने पर भी समाज में अन्तर्जातीय अथवा असवर्ण विवाह भी सदैव प्रचलित रहे हैं। असवर्ण विवाह के भी अनुलोम तथा प्रतिलोम दो रूप हैं-

(क) अनुलोम विवाह- अपने वर्ण से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह करना अनुलोम विवाह है। इस प्रकार इच्छा होने पर ब्राह्मण वर्णनुक्रम से चार, क्षत्रिय तीन, वैश्य दो तथा शूद्र केवल अपने ही वर्ण में विवाह कर सकता था। अनुलोम विवाह को विहित कर देने पर भी ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तति को शास्त्रकारों ने वर्णसंकर घोषित किया। शास्त्रों के ये नियम जनमानस में अनुलोम विवाह के प्रति भय एवं वितृष्णा जगाने में बहुत बड़े कारण बन गए।

(ख) प्रतिलोम विवाह- निम्न वर्ण का पुरुष यदि उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करे तो वह प्रतिलोम विवाह कहलाता है। भारतीय परम्परा में प्रतिलोम विवाह सदैव प्रतिषिद्ध रहा है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को चतुर्वर्ण में परिगणित नहीं किया जाता है। वैसे प्रतिलोम विवाह के कतिपय प्रसंग संस्कृत साहित्य में प्राप्त होता है।

विवाह में संयुक्त हो जाने वाले वर एवं वधू में कौन-कौन से गुण देखे जाएँ जिससे वैवाहिक जीवन भी सुखी हो सके और समाज का भी हित हो सके, इसका विस्तृत विचार भी शास्त्रकारों ने किया है। साथ ही ऐसे अवगुणों को भी लक्षित किया है जो वैवाहिक जीवन को विश्रृंखल कर सकते हैं।

(क) वर के गुण- वर में सर्वप्रथम यह गुण द्रष्टव्य है कि उसने ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर लिया हो, अर्थात् यथाविधि ज्ञान-सम्पन्न हो और गृहस्थाश्रम ग्रहण करने के लिए तत्पर हो। वर में पुरुषत्व एक अनिवार्य गुण है। धर्मपालन और वंशपरम्परा के लिए विवाह होता है। यदि वर में पुंस्त्व ही नहीं है तो कन्या का उससे विवाह करना निरर्थक है। वर के कुल, शील, शरीर, आयु, विद्या, वित्त और साधन-सम्पन्नता-इन सात गुणों की परीक्षा करनी चाहिए।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

(ख) वर के अवगुण- विवाह में वर के जो गुण काम्य हैं उनसे विपरीत धर्म स्वतः ही वर के अवगुणों के रूप में सिद्ध हो जाते हैं। दुष्ट स्वभाव, रोगी, दुश्चरित्र शारीरिक दृष्टि से कुरूप व्यक्ति भी विवाह के अयोग्य कहे गए।

(ग)वधू के गुण- भारतीय शास्त्रकारों ने वर की अपेक्षा वधू के गुणों का अधिक विवेचन किया है। वैदिक साहित्य में कन्या के चयन के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता, किन्तु सूत्रों तथा स्मृतियों में इसकी लम्बी तालिकाएं प्राप्त होती हैं।कन्या को वर न्यून आयु की होना चाहिए। वैद्यक की दृष्टि से भी पुरुष की अपेक्षा स्त्री की शारीरिक क्षमताएं शीघ्र एवं कम आयु में विकसित हो जाती हैं।वधू में स्त्रीत्व अथवा माता बनने की क्षमता भी अनिवार्य गुण है। इस क्षमता का निश्चय विभिन्न सामुद्रिक लक्षणों से किया जाता है। विवाह योग्य कन्या के कौमार्य गुण पर अधिक बल धर्मशास्त्रों के समय से ही हुआ। विवाह योग्य कन्या के कुल को भी महत्ता दी गई है। कन्या का एक अन्य सर्वकाम्य गुण है रूप। न्यून आयु, माता बनने की क्षमता, कौमार्य, उच्च या प्रशस्त कुल तथा रूप-इन प्रमुख गुणों के अतिरिक्त वधू के नाम तथा बाह्य शारीरिक लक्षणों के सम्बन्ध में भी विस्तृत विवेचन किया गया है।

(घ)वधू के अवगुण- सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने रोगिणी, अंगहीना अथवा विकृतांगी, वृद्धा, रूक्ष अथवा अशुभ नाम वाली, भ्रातृहीना आदि कन्याओं का विवाह में चयन न करने का विधान किया है।

वर एवं कन्या के गुणावगुण का कितना ही विवेचन क्यों न किया जाए, इस सम्बन्ध में महाभारत की व्याख्या सार्वकालिक है-जिनका धन और जिनकी विद्या एक सी है, उन्हीं में विवाह सम्बन्ध उचित होता है।

E-Learning material prepared by Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi